



पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा  
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र

१०

कालिम्पोंग (दार्जिलिंग)

२४-८-१९५३

‘ऐसे मुनिवर देखे वन में, जाके राग-द्वेष नहीं मन में’

**आत्मार्थी...**

मैं कलकत्ता से एक माह लगभग हुआ बाहर गया था, परंतु खेद है सोनगढ़ आनेका सौभाग्य नहीं हो सका। सेठ बच्छराजजी के साथ गया जाना हुआ था।...

सेठ बच्छराजजी व मोहनलालभाई का सोनगढ़ जल्द जाने का विचार है, परंतु खेद है मैं फिर भी अभी नहीं आ सकता, दीवाली के पास तक आना हो सकेगा ऐसी आशा है। परसों यहाँ से कलकत्ता जाऊँगा।

वहाँ परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव परम सुख-शांति में विराजते होंगे; हृदय में उनको नमन करता हूँ।

“अपनी सुधि भूल आप, आप दुःख उपायौ।  
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥”



“मन वचन तन करि शुद्ध भजो ‘जिन’ दाव भला पाया।  
अवसर मिले नहीं फिर ऐसा, यों सत्गुरु गाया॥”



“धन धन साधर्मीजन मिलनकी धरी।  
बरसत भ्रमताप हरन, ज्ञान धन झरी॥”



वहाँ सर्व मुमुक्षु मण्डली श्री गुरुदेव की धर्माभूत-वाणी-पान में मग्न है; विचार आते ही, दूर रहने रूप दुर्भाग्य का खेद होता है।

“चिदराय गुन सुनो प्रशस्त गुरु गिरा।  
समस्त तज विभाव, हो स्वकीयमें थिरा॥”



“कुगुरु, कुदेव, कुश्रुत सेये मैं, तुम ‘मत’ हृदय धरयो ना।  
परम विराग ज्ञानमय तुम, जाने विन काज सरयो ना॥”



(अनुसंधान पृष्ठ सं.१३ पर...)

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४५: अंक-२४१, वर्ष-२२, दिसम्बर-२०१७

आषाढ शुक्ल ५, गुरुवार, दि. २६-६-१९६६, योगसार पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१६, गाथा-४३-४४

४३. 'देवालय में साक्षात् देव नहीं है।' देखो! उसमें (४२ गाथा में) यह तीर्थ और मन्दिर है-ऐसा कहा था। अब, देवालय में साक्षात् देव नहीं है (ऐसा कहते हैं)। वह तो परोक्ष व्यवहार देव है।

मुमुक्षु :- दूसरे सम्प्रदायवाले इस गाथा का आदार निषेध के लिए देते हैं।

उत्तर :- निषेध के लिए देते हैं। यह तारणस्वामीवाले, यह स्थानकवासी लोग इसका (आधार) देते हैं। देखा यह? यह तो आत्मा का अन्दर (उपयोग) प्रयोग करे, तब यह साधन अन्तर में होता है परन्तु जब अन्दर स्थिर नहीं हो सकता, तब भगवान परमत्मा, मन्दिर, देव, का शुभभाव होता है, होता है; वह नहीं है-ऐसा माने तो भी मूढ़ है और उससे (कुछ धर्म) होता है-ऐसा माने तो भी नहीं है। अरे.. समझ में आया? बाह्य तीर्थ, मन्दिर, भक्ति, और पूजा का भाव होता ही नहीं-ऐसा माने तो वह व्यवहार को नहीं मानता। व्यवहार है अवश्य परन्तु उससे आत्मा की प्राप्ति होती है-ऐसा माने तो व्यवहार और निश्चय एक हो गये, मूढ़ हो गया वह तो। समझ में आया? ४३।

**देहा-देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिं णिएह।**

**हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ।।४३।।**

'श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवलाय में है।' यह जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है, यह जिनेन्द्रदेव,

हाँ! स्वयं का है न? वहाँ (उसमयसार में) ३१वीं गाथा में केवली की स्तुति में आत्मा रखा है। समझ में आया? केवलज्ञानी की स्तुति कैसे होती है?-ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्रश्न किया। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा कि इस आत्मा के अन्दर अतीन्द्रिय का अनुभव करे, इन्द्रियातीत होकर, तो वह केवली की स्तुति ही कहा जाता है। समझ में आया?

'श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में हैं।' यह जिनेन्द्र यहाँ है। 'जणु देवलिहि जिणु' 'अज्ञानी जीव मन्दिरों में देखा करते हैं।' वहाँ यह भगवान विराजते हैं-ऐसा मानते हैं। वहाँ तो भगवान की स्थापना है। वहाँ तो साक्षात् भावनिक्षेप से भगवान वहाँ भी नहीं है, पर भगवान भी वहाँ नहीं है। हैं? विवेक बिना वहीं उनके सन्मुख देखने से मेरा कल्याण हो जाएगा और अन्दर का सम्यग्दर्शन हो जाएगा और सम्यग्ज्ञान हो जाएगा-(ऐसा माने तो) मूढ़ है। ऐसा यहाँ कहते हैं।

अज्ञानी 'जणु देवलिहि जिणु' मन्दिरों में देखते हैं। वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है। हे भगवान! दे दो मुझे, दे दो, शिवपद मुझको दे दो रे महाराज! शिवपद! तेरा शिवपद वहाँ है? तेरा शिवपद तो यहाँ है। जो होवे वह तो बात लेनी न? तुम्हारे मन्दिर होता हो तो क्या? नया

होता है इसलिए मानो...

मुमुक्षु :- तो फिर दर्शन करते समय वहाँ क्या कहना?

उत्तर :- कहना वहाँ क्या? ऐसे बोले भले परन्तु उसका विवेक चाहिए कि वे कुछ दे ऐसा नहीं। मेरा शिवपद तो मेरे पास है, यह तो एक भक्ति का भाव है। आहाहा..! बाह्य भक्ति तो... अन्दर की भक्ति तो अन्दर में उतरे वह भक्ति है। ज्ञानानन्दस्वरूप के अन्दर में एकाकार होकर अनुभव करना, वह आत्मा की भक्ति है। जिसके सन्मुख देखकर

स्थिर होवे उसकी भक्ति वह है। सन्मुख देखकर उसमें स्थिर होवे तो वह परभक्ति है, व्यवहार है। होता है, व्यवहार; व्यवहार नहीं- ऐसा नहीं। पूर्ण वीतराग न हो, इसलिए ऐसा व्यवहार होता है परन्तु कोई ऐसा माने कि इस व्यवहार के द्वारा अन्तर में निश्चय होगा- यह बात मिथ्या है, यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

कहते हैं कि 'महु

**हासउ पडिहाइ' अरे... 'मुझे हँसी आती है।' बड़ा राजा 'इस लोक में धनादिक की सिद्धि होने पर भी वह भीख माँगता फिरता है...'**

बड़ा राजा हो और भीख माँगे, भाईसाहब! कुछ देना, रोटी देना.. इसी प्रकार तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान यहाँ विराजता है और माँगता है पर से। परदेवालय में और मन्दिर में माँगता है कि मुझे मोक्ष देना, वह है उसमें? 'राजा भिक्षार्थ भ्रमे ऐसी जन को टेव' है या नहीं इसमें? समझ में आया?

भगवान आत्मा...! यहाँ तो योगसार है न? योग अर्थात् अपने में जुड़ान हो, तब योग कहलाये

या पर में जुड़ान हो, वह योगसार कहलाये? अपने में, ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य में एकाकार होने से योगसार कहा जाता है। योगसार नहीं, योग है भले व्यवहार, सार नहीं; सार तो यह योगसार है। समझ में आया? आहाहा..! दूसरे प्रकार से कहें तो वह योग तो असत्य है, यह योग ही सत्य है; वह योग व्यवहार है, यह योग निश्चय है; व्यवहार योग असत्यार्थ है, निश्चययोग सत्यार्थ है। समझ में आया? अरे..!

मुमुक्षु :- दूसरा रंग...

उत्तर :- दूसरा रंग होवे, शुभभाव का होवे।

दूसरा क्या है? जब होवे तब शुभ होवे, तब भगवान ऐसा है। ऐसा भी कहे हे प्रभु! तुम्हारी भक्ति से.. देखो न! श्रीमद् का एक वाक्य नहीं? 'भजी ने भगवन्त भव अन्त लहो, भजि ने भगवन्त भव अन्त लहो' ए... भाई! 'भजि ने भगवन्त...' दूसरे ऐसा बोले कि उन भगवान को भजकर भव का अन्त हो गया। शब्द ऐसे हैं। आता है न? 'शुभ

शीतलतामय छाया...' भाषा तो ठीक, भव अन्त की बात लेते हैं। वापस वह (आता है) 'भजि ने भगवन्त...' इस भगवान को भजकर, यह भगवान ऐसा कहते हैं, उनका भजन तब व्यवहार से कहलाता है कि वे ऐसा कहते हैं कि तेरे स्वरूप का भजन कर, तब भव का अन्त आयेगा। समझ में आया? हमारा स्मरण करते रहने से, हमारे सन्मुख देखकर मर जाए तो भी कहीं तेरा कल्याण हो-ऐसा नहीं है।

हे वीतरागमार्ग! परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ का मार्ग ऐसा है। जगत तो ऐसा एकान्त मानकर बैठ



जाता है कि वहाँ से हमारा मोक्ष होगा, वह मूढ़ है। वैसे ही आत्मा के स्वरूप का आश्रय करके पूर्ण स्थिरता न हो, तब तक ऐसा स्मरण और भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता। अशुभ से बचने के लिए (आता है)। स्थिरता का शुद्ध उपयोग न हो (तब) अशुभ से बचने के लिए ऐसा शुभभाव होता है परन्तु उस व्यवहार से अन्दर में कल्याण होगा-ऐसा मान ले तो वह बात (झूठ है)। आहाहा..! सामने देखना छोड़कर अन्दर में देखेगा, यह भगवान अन्दर में पूर्णानन्द का नाथ विराजता है 'सिद्ध समान सदा पद मेरो-' यह अन्दर में देखे, तब उसका कल्याण होगा। ज्ञान से देखे, श्रद्धा से माने, स्थिरता से लीन हो, उसमें स्थिर होवे और उसे देखे और माने, स्थिर हो या बाहर से आता होगा? आहाहा..! कहो समझ में आया? जो बात हो वह स्पष्ट तो आना चाहिए या नहीं।

लोक में बड़ा धनाढ्य हो और घर का... यहाँ कहने का आशय ऐसा है कि पूँजी है घर में... समझ में आया? पूँजी समझे न? लक्ष्मी है घर में और माँगने जाए वहाँ.. ऐसे यह लक्ष्मी यहाँ अन्दर में पड़ी है-अनन्त केवल ज्ञानादि लक्ष्मी तो यहाँ है, भीख माँगता है भगवान के पास, बाहर के भगवान के पास.. हे भगवान! देना, कुछ देना। वे भगवान कहते हैं कि तेरे पास है, मेरे पास नहीं। समझ में आया? देखो!

'यहाँ इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमन्दिरों की बाहरी भक्ति से हीसंतुष्ट होते हैं व अपने को धर्मात्मा समझते हैं, इस बात का बिलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करने का व पूजन करने का क्या हेतु है, कुछ नहीं समझते... वे केवल कुछ शुभभाव के पुण्य बाँध लेते हैं परन्तु उनको निर्वाण का मार्ग नहीं दिख सकता है। अन्तरंग चारित्र के बिना बाहरी चारित्र होता है-यह बालू

में से तेल निकालने के समान प्रयोग है।' बाह्य चारित्र है न यह सब? पूजा, भक्ति आदि बाह्य चारित्र है, व्यवहार है, विकल्प... इस अन्तरंग बिना चारित्र, अन्तर में रमणता बिना यह बाहर का चारित्र 'बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है।' रेत में से तेल निकालना। 'सम्यग्दर्शन बिना...' अर्थात् क्या कहते हैं? अपना जो स्वरूप है, उसे अन्तर्मुख से प्रतीति किये बिना 'सर्व ही शास्त्र का ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र है।' कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा..! ऐसा कहकर बहुत बात ली है।

थोड़ा सा अन्त में लिया है। पृष्ठ १७९ में- 'जिसने आत्मदेव को शरीर के अन्दर देख लिया, उसे फिर बाहर की क्रिया में मोह नहीं हो सकता।' बाह्य क्रिया आवे अवश्य परन्तु मोह नहीं है। 'कारणवश अशुभ से बचने के लिए वह बाह्य क्रिया करे तो भी उसे निर्वाण का मार्ग नहीं मानता।' यह सब सार है। लक्ष्य में होवे तो सब आ जाता है। बाकी सब लम्बी बात बहुत है। समयसार का दृष्टान्त दिया है। 'जो परमार्थ से बाह्य है...' समयसार है न? 'परमदुर्बाहिरा' परमार्थ भगवान आत्मा... (वहाँ) पुण्य का अधिकार है। तो पुण्यभाव तो शुभभाव है और शुभभाव में लक्ष्य तो पर के ऊपर जाता है। स्वभाव चैतन्यस्वरूप, जिसे उसकी दृष्टि नहीं, उसका आश्रय नहीं-ऐसे परमार्थ से बाह्य जीव 'निश्चयधर्म को नहीं जानते।' सच्चे धर्म को नहीं समझते। 'मोक्ष के मार्ग को नहीं जानते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारणरूप पुण्य को ही चाहते हैं...' उस शुभभाव की ही भावना होती है, उससे मुक्ति होगी-ऐसा मानते हैं। 'पुण्यकर्म का बंध करनेवाली क्रिया को निर्वाण का कारण मान लेते हैं।'

दूसरा दृष्टान्त दिया है, मोक्षमार्ग का समयसार का - 'कोई बहुत कष्ट से मोक्षमार्ग से विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाएँ कर के कष्ट भोगता

है तो भोगो...' मिथ्यादृष्टि अन्य और कोई जैन में रहनेवाले 'जैनों के महाव्रत और तप के भार से पीड़ित होते हुए कष्ट भोगते हैं तो भोगो परन्तु उनका मोक्ष नहीं होता है।' पर तरफ के लक्ष्य में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप से कभी भी मुक्ति नहीं होती है। अरे! व्यवहार, व्यवहार, व्यवहार... व्यवहार है अवश्य, परन्तु उससे निश्चय प्राप्त नहीं होता-ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। पर के योग से स्व-योग प्राप्त नहीं होता। योगीन्द्रदेव (ऐसा कहते हैं) कि श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं, श्रुतकेवली ऐसा निश्चय से कहते हैं। समझ में आया? यह ४३ (गाथा पूरी) हुई।

४४. 'समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख।' उन दो में निषेध किया न? अब यहाँ देखने में साधन क्या? ऐसा कहते हैं। यह तीर्थ और मन्दिर यह है-ऐसा कहा। देवालय में देव नहीं (है), अज्ञानी मानता है-ऐसा कहा। तब यहाँ देखने में करना क्या? किस भाव से आत्मा दिखता है? समझ में आया?

**मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।  
देहा-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समिचित्ति।।४४।।**

वजन यहाँ है। उन परदेव, देवालय में तो शुभराग है, शुभविकल्प है, पर का स्मरण है। भगवान आत्मा को अन्दर देखने में 'समचित्ति' सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञात हो-ऐसा है। कहो, समझ में आया? 'समचित्ति' क्यों कहा? बाहर के परोन्मुखता में तो शुभराग होता है। देवालय, देव, मन्दिर, दर्शन, भक्ति में शुभराग है। शुभराग से चैतन्यमूर्ति दिखती नहीं।

चैतन्यमूर्ति भगवान राग से रहित समभाव अरागी ज्ञान, अरागी श्रद्धा, अरागी स्थिरता द्वारा अन्तर में अवलोकन होता है। समझ में आया? यह 'समचित्ति' योग है। स्वभाव पूर्णानन्द का माहात्म्य आकर जो स्थिरता-अन्दर में एकाग्रता (होती है), उस एकाग्रता

को यहाँ समभाव कहा गया है। बाहर की अन्दर में एकाग्रता हो, उसे तो विषमभाव-शुभराग कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा निज प्रभु आत्मा विराजमान है, उसे देखने में तो समभाव चाहिए; पर को देखने में तो राग होता है, शुभभाव होता है। समझ में आया?

'हे मूर्ख! देव किसी मन्दिर में नहीं है न देव किसी पाषाण, लेप या चित्र में है...' समझ में आया? 'जिणु देउ देहा-देवलि' 'जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में है।' देखो, यह जिनेन्द्र अर्थात् आत्मा... 'जिणु' कहा है न? 'जिणु।' यह जिनदेव तो यह आत्मा है। 'जिणु देउ' जिनदेव तो 'देहा-देवलि' शरीररूपी देवालय में भगवान यहाँ विराजते हैं। तेरा जिनेन्द्र तो यहाँ विराजता है। वीतरागमूर्ति आत्मा... आत्मा ही जिनेन्द्र है। जिनेन्द्र, अर्थात् वीतराग का इन्द्र है, अर्थात् आत्मा ही अपना वीतरागी स्वभाव का ही ईश्वर है। अपना त्रिकाल वीतरागस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, अनाकुलस्वरूप है, बेहद शान्तस्वरूप है-ऐसा वीतराग का ईश्वर, यह आत्मा स्वयं ही जिनेन्द्र है। समझ में आया? अरे! भाईसाहब! मैं जिनेन्द्र होऊँ? तू जिनेन्द्र न हो तो होगा कहाँ से? पर्याय में-अवस्था में जिनेन्द्र आयेगा कहाँ से? भगवान आत्मा स्वयंस्वरूप से जिनेन्द्र न हो तो पर्याय में-अवस्था में जिनेन्द्र होगा कहाँ से? समझ में आया?

मुमुक्षु :- हे भाई! हे सखा! हे भव्य.. ऐसा आता है न?

उत्तर :- यह तो सब सम्बोधन चाहे जो करो। हे भव्य! इसमें सम्बोधन चाहे जैसे करें, उसका कुछ नहीं।

'समचित्ति सो बुज्झहि' 'उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार करा।' लो, यह सार यहाँ है। वहाँ 'परमात्मादेव ईट और पाषाण के बने हुए मन्दिर में नहीं मिलेगा।'

वहाँ परमात्मा नहीं मिलेगा। कहां? 'नहीं परमात्मा का दर्शन किसी पाषाण या धातु या मिट्टी की मूर्ति में होगा या नहीं किसी चित्र में होगा।' लो! 'अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है।' यहाँ डाला, यहाँ ही है। भगवान आत्मा वीतरागी पिण्ड आत्मा ध्रुव शाश्वत चिदानन्दमूर्ति है, वह स्वयं ही जिनेन्द्र का स्वरूप है। जिन और जिनवर ने कोई अन्तर नहीं है। ऐसा यह जीव, वह स्वयं ही जिनेन्द्र है। इसके दर्शन अन्तर में समभाव से होते हैं। समभाव अर्थात् परसन्मुख का झुकाववाला राग.. उसे छोड़कर स्वभावसन्मुख की श्रद्धा, ज्ञान जो समभावरूप है, उससे भगवान जिनेन्द्र दिखते हैं, उससे श्रद्धा में आते हैं, उससे ज्ञात होते हैं। आहाहा..!

योगीन्द्रदेव मुनि थे, दिगम्बर सन्त जंगल में बसते थे, उन्होंने दुनिया को यह कहा है। यह जैनधर्म का रहस्य है। समझ में आया? इस रहस्य का धारक भगवान तू है, तेरे सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे ऐसा है। पर के सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे- ऐसा नहीं है। पराधीनतावाले को (ऐसा लगता है कि) ऐसा होगा, पर के बिना मेरे चले नहीं, पर के बिना चले नहीं, पर के लक्ष्य बिना चले नहीं, पर के ज्ञान बिना चले नहीं, पर के आधार बिना चले नहीं... वह पामर हो गया। अर्थात् उसे अपनी स्वतन्त्रता का भान नहीं है। समझ में आया? वह तो एकान्त शुभभाव का निमित्त है-ऐसा कहते हैं। इतना, समझ में आया? बाकी लम्बी-लम्बी बात की है। वह तो सब चलता है। अब ४५ (गाथा)।

## पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८५वां जन्मजयंति महोत्सव

### आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न

पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८५वां जन्म जयंति महोत्सव दि. २३-११-२०१७ से दि. २७-११-२०१७ तक अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया गया। इस महोत्सव के उपलक्ष्यमें पंच दिवसिय मंडलविधान रखा गया था। पूज्य भाईश्री शशीभाई के ओडियो तथा वीडियो सीडी प्रवचनों का लाभ लिया गया।

दि. २६-११-२०१७ के दिन एक भव्य रथयात्रा का आयोजन किया गया, जो शहर के मुख्य मार्ग पर होती हुई शाम ५-०० बजे जिनमंदिर में समाप्त हुई। पारणाञ्जुलन, जन्मवधामणा आदि कार्यक्रम भक्ति सहित मनाया गया।

इस प्रसंग पर कोलकाटा, आग्रा, मुंबई, अहमदाबाद, सोनगढ़ इत्यादिक स्थान से मुमुक्षु लोग पधारे थें।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०१७) का शुल्क स्व. श्री शीलालजी मांगीलालजी सिंघवी, दबोक (उदयपुर), ह. श्री सुमतिलाल शिवलाल शाह परिवार, यु.एस.ए. के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार  
ग्रंथके ९१९ वचनामृत पर भाववाही  
प्रवचन, दि. २०-५-१९८५ प्रवचन  
क्रमांक-५४४ (विषय : विधि)

वीतराग के मार्गमें तो सम्यग्दृष्टिकी प्राथमिकता है। प्रथम तो भेदज्ञान होना चाहिए। ऐसा सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है तथा वैसा श्रद्धान द्रव्यानुयोगका भावाभ्यास करनेसे होता है। अतः द्रव्यानुयोग-अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना सो प्रारंभिक धर्म है, तत्पश्चात् व्रतादि होते हैं। ९१९.

पृष्ठ-१८३, ९१९ चल रहा है। सैद्धान्तिक बात है। 'वीतरागताके मार्गमें...' अर्थात् मोक्षमार्गमें समकितकी मुख्यता प्रथम है। सम्यग्दर्शन ये नींवकी वस्तु है। सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ (किया जाता है), उसकी कोई कीमत नहीं है। प्रश्न यह होने योग्य है कि क्या कोई जीवको सम्यग्दर्शन न हो तो उसे दूसरा कुछ नहीं करना? क्योंकि जगतमें पापप्रवृत्ति और पुण्यकी प्रवृत्ति है। सम्यग्दर्शन तो उस पुण्य-पापसे पर है। यदि सम्यग्दर्शन न हो, तबतक दूसरेकी कोई कीमत न हो तो पाप करो वा पुण्य करो। दोनों एकसमान हैं।

कहते हैं कि, जिसे दोष टालने हैं और गुण प्रगट करने हैं, ऐसी जिसे स्वयंको स्वरूप-लक्ष्यसे विचारणा है, जिसे सुविचारण कहें, ऐसी जो सुविचारणा है उसमें अशुभ प्रवृत्ति करनी या करनेका उल्लास होना, वह प्रश्न तो अस्थानमें है। दूसरा प्रश्न यह है कि, व्रतादि पालने या नहीं? व्रतादिका पालन सहज होता हो तो वह छोड़कर पाप प्रवृत्ति करनी, ऐसा तो कहीं आदेश या उपदेश हो सकता नहीं। परन्तु सम्यग्दर्शन

बिना व्रतादिका पालन करनेमें आता हो तो उस जीवको ऐसा समझना, ऐसा गिनतीमें रखना कि ये व्रतादि वास्तवमें सच्चे व्रतादि नहीं हैं। ऐसे उसे जानना चाहिये।

दूसरा, मेरे ज्ञान और पुरुषार्थकी जो व्यक्त शक्ति पर्यायमें विकसीत है, उसका सदुपयोग तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये तो उस पर्यायमें उतनी क्षमता है कि सम्यग्दर्शन हो सके। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवकी पर्यायमें उतनी कार्यक्षमता है कि वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सके। विकास अल्प हो तो भी पुरुषार्थ पर्याप्त है। सम्यग्दर्शनके योग्य पुरुषार्थ पर्याप्त मात्रामें विकसीत है। जिनेन्द्रदेवने यह मर्यादा प्रसिद्ध की है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेका अधिकारी है। अतः उसे स्वयंकी सर्व शक्ति सम्यग्दर्शन होनेमें लगे, यह देखना चाहिये, इसका विचार करना चाहिये। फिर भी अशुभ न रुचे और सहज ही मन्द कषायकी स्थिति रहती हो तो व्रतादि पालन करनेका दोष नहीं है। परन्तु वहाँ ऐसे व्रतादिको धर्म मानने पर, धर्मका कारण मानने पर अथवा सच्चे व्रतादि मानने पर दोष है। व्रतादिका पालन करने पर भी वह दोष है कि जो

दोष मिथ्यात्वका दोष है।

मुमुक्षु :- जो व्रत करते हैं वह गलत है, ऐसा कहाँ मानते हैं, इसलिये तो करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- यहाँ सच्चा यानी क्या और जूठा यानी क्या? कि आत्मामें स्वरूप स्थिरता पूर्वक वीतरागता होकर राग मिटे, रागका अभाव हो, विकल्प हो और व्रतादिका पालन हो वह व्रत सच्चा। परन्तु राग तो अन्दरमें रह गया है, वीतरागता प्रगट नहीं हुयी होनेसे राग तो रह गया है, परन्तु उदयमान नहीं है। और कषायकी तीव्रतामें और पापकी प्रवृत्तिमें जीव जाना नहीं चाहता, इच्छता नहीं। उसे सहज ही कषायकी मन्दतामें व्रतादिका पालन होता हो, करनेमें आता हो, होता हो तो उसे ऐसा जानना कि सच्चे व्रतका जो स्वरूप है, वैसा व्रत तो यह है नहीं। वीतरागतापूर्वकके व्रतका स्वरूप यह नहीं है। ऐसा जाने तो उसे व्रतका अभिमान कितना हो? कि जूठा व्रत हो वहाँ व्रतादिका अभिमान होनेका एक प्रकार सहज ही उत्पन्न हो जाता है। वह समझ यदि बराबर हो तो उस समझमें उस दोषसे बराबर बचे। अभी तो समझ बराबर हो तो। सच्चा व्रत होना वह तो वीतरागताके सद्भावमें ही बनता है, इसके अलावा बनता नहीं।

इसलिये यहाँ यह सिद्धान्त रखा है कि **‘वीतरागताके मार्गमें तो सम्यग्दृष्टिकी प्राथमिकता है।’** और समकित है वह भेदज्ञान होनेपर होता है। इसलिये **‘प्रथम तो भेदज्ञान होना चाहिए।’** प्रथम भेदज्ञान होना चाहिये और वह भेदज्ञान अनादिका जो विभावका परिचय होकर विभाव साधारण हो गया है, वह विभाव, स्वभावके परिचयसे उसकी साधारता छोड़े तो उसे भेदज्ञान हो।

फिरसे उसे स्पष्ट करते हैं। इस जीवको अनादिसे स्वरूपका-स्वभावका परिचय नहीं है। बराबर है? और जीवकी दशामें विभाव उत्पन्न होता ही रहा है। इसलिये विभाव इतना सामान्य और साधारण हो गया है;

है कि नहीं यह परिस्थिति? जाँच करे तो समझमें आये ऐसा है कि विभाव इतना साधारण हो गया है, इतना सामान्य हो गया है कि उसमें उसे कोई विशेषता नहीं लगती है। लगती है कोई विशेषता? उस विभावकी साधारणता कब टले? कि भेदज्ञानकी प्रक्रियामें स्वभावका परिचय करनेका पुरुषार्थ हो तब। तब उसे वह भेदज्ञान हो, तो उसे सम्यग्दर्शन हो। इसलिये पहले यह कहा कि प्रथम भेदज्ञान होना चाहिये। कल थोड़ा लिया था, फिरसे लेते हैं।

**‘ऐसा सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है...’** और उस भेदज्ञानमें स्वका लक्ष्य है। पर ज्ञात होने पर भी परका दुर्लक्ष्य है। ऐसे स्व-परको भिन्न करने पर स्व सो मैं ऐसी प्रतीति होती है और पर सो मैं ऐसी प्रतीतिका अभाव होता है। वह तो अनादिसे थी। ऐसी प्रतीतिका अभाव होता है तब उसे श्रद्धान होता है। स्व-परका श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है, ऐसा कहा। उसमें स्वमें अहंपनेकी प्रतीति है और परमें अहंपनेकी प्रतीति थी, उसका नाश है। प्रतीति बिनाका तो जीव था नहीं। परमें अहंपनेकी-पर और रागमें अहंपनेकी जो अनादिकी प्रतीति थी, वह स्व-परके श्रद्धानसे यथास्थानरूप होकर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। उसे श्रद्धान कहें-सम्यग्दर्शन कहें।

**‘तथा वैसा श्रद्धान द्रव्यानुयोगका भावाभ्यास करनेसे होता है।’** ऐसा स्व-परका श्रद्धान द्रव्यानुयोग, कि जिसमें छहों द्रव्यके स्वरूपका भिन्न-भिन्न स्वभावस्वरूप द्रव्य हैं, उसका निरूपण किया है। और निरूपण किया होनेसे पदार्थकी भिन्नता समझमें आती है। वह द्रव्यानुयोगके अभ्यासमें समझमें आता है। दूसरे अनुयोगमें-तीनों अनुयोगोंमें कथनशैली ऐसी है कि जिसमें भेदज्ञान सीधा नहीं आता है।

जैसे कि चरणानुयोगका कथन आवे तब ऐसा कहे कि आचरण ऐसा करना, शरीरसे संयम पालना, वाणीसे संयम पालना, मौन रहना, देखकर चलना,



मुनिराजको देखकर चलना। तो जैसे देहादिकी क्रिया कर सकता हो ऐसी पद्धतिसे वह कथन आता है। इसलिये तो लोगोंने कहा कि कानजीस्वामी ऐसा कहते हैं कि दो पदार्थ भिन्न हैं तो आपको बहुत शास्त्रोंको बदलना पड़ेगा। बहुत शास्त्रोंको माने क्या? कि करणानुयोग, कथानुयोग, चरणानुयोगमें ऐसे कथन आये। ऐसा भाव करे तो ऐसा कर्म बन्धे। ऐसे कर्मका उदय हो तो ऐसा भाव हो। दो पदार्थमें परस्पर कारण-कार्य लिया। यहाँ भी जीवको चरणानुयोगमें आचरण करनेमें भी शरीरके कार्य करनेका लिया। कथानुयोगमें तो उससे भी स्थूल बात आये। वह तो कहानी ही है। उसमें तो ऐसा किया और वैसा किया। सभी कार्य, जगतके संयोगके कार्य जीव कर सकता हो, ऐसी भाषा आये।

इसलिये यहाँ ऐसा कहा कि स्व-परकी भिन्नताका **‘श्रद्धानु द्रव्यानुयोगका भावाभ्यास करनेसे होता है।’** वर्तमान जैनके नामसे चलते संप्रदायोंमें द्रव्यानुयोगका अभ्यास नहिवत् है। थोड़ा बहुत होगा लेकिन वह नहींके बराबर है। इसलिये दो पदार्थकी भिन्नताकी बात, भेदज्ञानकी बात प्रथम होनी चाहिये, नींवमें होनी चाहिये कि जो सम्यग्दर्शनका कारण बने। वही बात नहीं है, और दूसरी-दूसरी बातें चले। यह बड़ी गड़बड़ी है। नींवकी भूल है यह।

**‘श्रद्धानु द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे होता है।’** द्रव्यानुयोगमें दो बात मुख्य है। एक तो पदार्थोंकी भिन्नता। द्रव्यका अनुयोग है न? इसलिये छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, वह उसके स्वरूप निरूपणसे बातको स्थापित की है। दूसरी बात यह स्थापित की है कि सम्यग्दर्शन आदि वीतरागी परिणाम करने हेतु पुण्यादि परिणामका निषेध किया है। जबकि तीनों अनुयोगोंमें वह बात मुख्यरूपसे नहीं आती है।

चरणानुयोग आये वहाँ शुद्ध परिणतिके साथ बाह्याचरण, शुभयोगका बाह्याचरण ऐसा ही हो, और इससे निम्न नहीं होता, ऐसा दर्शाने हेतु ऐसा ही होता

है, ऐसा शुभभाव आये बिना रहे नहीं, ऐसे स्थापित करना पड़े। मुमुक्षु हो तो मुमुक्षुकी भूमिकाका शुभभाव आये बिना न रहे। चतुर्थ, पांचवे, छठवे गुणस्थानमें उस गुणस्थाके योग्य भूमिकाका शुभराग आये बिना रहे नहीं, ऐसा स्थापित करना पड़े। अब, जिस परसे वज्रन उठा लेना है उस पर वज्रन जाय ऐसी कथनशैली वहाँ आये। द्रव्यानुयोगकी यह विशेषता है। वह लिया न पीछे?

११४में अंतिम तीसरी पंक्ति। **‘द्रव्यानुयोगमें स्वभाव-दृष्टि करानेके लिए ही पुण्याका निषेध किया गया है।’** वीतरागकी वाणीमें जो द्रव्यानुयोगका विभाग है वहाँ स्वभावकी प्राप्ति करानेके लिए, वीतरागता प्राप्त करानेके लिये पुण्यादि परिणामका निषेध प्रसिद्धरूपसे किया है। प्रसिद्धरूपसे किया है उस अनुयोगके अन्दर। पुनः वह बात कोई गुप्त नहीं रखी है। परन्तु वह अभ्यास नहीं है और दूसरा अभ्यास है एवं मान्यता भी उसी प्रकारकी है, ऐसी भाषाशैली है। अतः द्रव्यानुयोगका विषय उसे नवीन लगता है अथवा कोई नयी बात प्रकाशित की हो, मार्गसे, संप्रदायकी परंपरासे कोई अलग बात प्रकाशित की हो ऐसा लगता है। अपने यहाँ ऐसी परंपरा कहाँ है? लेकिन निश्चयसे वह मूल परंपरा है। मार्गकी यह मूल परंपरा है। जो द्रव्यानुयोगसे है। उसका अभ्यास मुख्यरूपसे करना चाहिये।

क्योंकि सम्यग्दर्शन **‘श्रद्धानु द्रव्यानुयोगका भावाभ्यास करनेसे होता है।’** अब द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे जो सम्यग्दर्शन होता है, उसमें जितने भी लोग द्रव्यानुयोगका अभ्यास करे उसे सम्यग्दर्शन होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं है। हो वा न हो। तो जो यथार्थपने द्रव्यानुयोगका अभ्यास करे उसे सम्यग्दर्शन होता है। होवे ही होवे। जो द्रव्यानुयोगका अभ्यास करने पर भी विपर्यासको छोड़े नहीं तो वह द्रव्यानुयोगका अभ्यास करने पर भी, शास्त्र अनुसार जानपना करने पर भी अन्दरमें जो भेदज्ञानकी प्रक्रियामें

आकर विपर्यासको छोड़ना चाहिये वह न छोड़े तो वह अभ्यास उसे कार्यकारी होता नहीं। परन्तु मात्र धारणारूप रह जाता है। सिर्फ धारणा हो। याददास्त जैसा विषय है वह। अभ्यास हो तो धारणा रहे, कुछ काल पर्यंत। हमेशाके लिये धारणा रहे ऐसा है नहीं। तथापि उससे कोई संस्कार डलते हैं ऐसा भी नहीं है। इसलिये उस द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेवालेको भी विशेष बात यह है कि उसे यथार्थ समझ करके भेदज्ञान करना चाहिये, भेदज्ञानमें आना चाहिये। तो उसे श्रद्धान होता है।

लेकिन यहाँ तो इतना स्थापना है कि **‘अतः द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना सो प्रारंभिक धर्म है, तत्पश्चात् व्रतादि होते हैं।’** अथवा टोडरमलजीने उस बातको इस तरह स्थापी है कि जैनदर्शनमें ऐसी आम्नाय है कि प्रथम तो तत्त्वज्ञानका अभ्यास करके सच्चा श्रद्धानी हो। सच्चा श्रद्धानी होनेके बाद आगे अपनी निर्दोषतामें पूर्णता पर्यंत पहुँचना है इसलिये तत्पश्चात् व्रतादिको अंगीकार करे, प्रतिज्ञा ले। परन्तु वह तत्त्व ज्ञानका अभ्यास करनेके बाद, ऐसा कहा। सत्य श्रद्धान करनेके बाद। आम्नाय ऐसी है। फिर भी किसीको उसके पहले व्रतादिका अंगीकार हो अथवा हुआ हो, तो उसे वह व्रत सच्चा नहीं है ऐसा जानना चाहिये। ऐसे।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- वह व्रत सच्चा नहीं है ऐसा जानना चाहिये। वीतरागके मार्गमें जो सत्य व्रत कहे हैं, वह वीतरागताकी दशापूर्वक रागादिका अभाव हुआ, ऐसे व्रतादिको सच्चे व्रत कहे हैं। जो मोक्षमार्गमें व्यवहार नामको प्राप्त होता है। जिसे व्यवहाररत्नत्रय कहनेमें आता है। परन्तु निश्चयरत्नत्रयके अभावमें व्यवहाररत्नत्रय कभी किसी जीवको होते नहीं। तो निश्चयरत्नत्रय न हो उसे कोई व्यवहार व्रतादिका अंगीकार करना हो या हुआ हो तो? तो उसे ऐसा जानना चाहिये ये व्रतादि सच्चे नहीं है। परन्तु अशुभ वंचनार्थ अशुभसे

बचनेके लिये मुझे सहज ही कषायकी मन्दता रहती है, मात्र उतनी बात है, कि जिसका मैं कोई अधिक मूल्य नहीं समझता हूँ। मोक्षमार्गमें उसकी खास कोई कीमत भी नहीं गीनी है। ऐसा उसे जानना चाहिये। फिर उपवास करे, कुछ भी करे।

अन्यथा क्या होता है कि उसकी कीमत इतनी दी जाती है कि फिर तो ठिकाना न हो, परिणामका ठिकाना न हो और बाह्य क्रिया हो तो भी उसकी महिमा करने लगे। ये स्थिति तो संप्रदायमें प्रगटरूपसे देखनेमें आती है। उस स्थितिमें आये बिना रहे नहीं। ऐसा बनता है, नहीं बनता है ऐसा नहीं।

सामान्यतः परंपरा यह है। तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्चा श्रद्धानी हो और व्रतादि प्रतिज्ञा अपनी शक्ति अनुसार ग्रहण करे। वहाँ ऐसे बात ली है। क्या लिया है? कि सच्चा श्रद्धान हो बादमें परिणाममें जितनी शक्ति हो अर्थात् हठ न हो और सहज ही कषायकी मन्दता रह सके ऐसी शक्ति हो, उतने प्रमाणमें वह प्रतिज्ञा, व्रत, त्यागादि अंगीकार करे। ऐसे शक्ति अनुसार लिया है। वहाँ इतना शब्दप्रयोग किया है।

मुमुक्षु :- फिर प्रमाद नहीं होगा?

पूज्य भाईश्री :- शक्ति अनुसार करना है, उसे कहाँ प्रमाद है? नहीं करना है उसे प्रमाद है। प्रमाद तो चोर है। जिसे नहीं करना है उसे प्रमाद है। परन्तु जो आत्माका हित करनेके लिये निकला है, वह क्यों प्रमाद करेगा? जिसे अपना हित करना है वह क्यों प्रमाद करेगा? और कहाँ किसी औरके लिये करना है? जगतकी मान प्राप्ति हेतु या दिखावेके लिये करना है? उसे निज हित हेतु करना है। और फिर भी प्रमाद करे तो प्रमाद करनेवाला गुनेगार है, उसका बचाव नहीं है। ऐसा है।

इतिहासमें ऐसा बना है और बनेगा भी कि मिथ्यादृष्टि हो और मुनिदीक्षा भी अंगीकार करे। मिथ्यादृष्टि हो वह व्रतादि प्रतिज्ञा ले, मुनिदीक्षा अंगीकार करे। लेकिन उसकी सावधानी इतनी होनी

चाहिये कि मुझे वीतरागता प्रगट नहीं हुयी है, इसलिये यह सच्चा नहीं है। इसे सच्चा करना है। परन्तु मेरे परिणाम तीव्र पापमें जाय ऐसे नहीं है। क्योंकि बहुभाग जीवोंको तो पाप रुचता है। पुण्यके फलमें जो मज़ा आती है वह सब पापप्रवृत्ति है। वह पाप रुचता है। ऐसा नहीं बनता है। बहुत जीव ऐसे होते हैं कि जिसे प्रकृतिगतरूपसे पाप रुचता नहीं। तो उसे सहज ही उस परिणाममें नहीं जाना है। वह भले ही व्रतादि अंगीकर करे, परन्तु जाने कि यह क्या है। उसमें कदापि अतिपरिणामीपना न करे। अथवा नहीं है उसे है ऐसा न मान ले। जहाँ अभी सम्यक् प्रकारसे गुण प्रगट नहीं हुए हैं सम्यक्त्वादि होने पर,

वहाँ गुणकी उत्पत्ति न मान ले। तो उसे गड़बड़ी न हो, अन्यथा गड़बड़ी हुए बिना रहे नहीं।

यह समझ गुरुदेवने दी है। बहुत स्पष्टता की है। बहुत विस्तार किया है न। ४५ साल तक बहुत विस्तार किया है। इसलिये ऐसा कहा कि जो धोख मार्ग है-राज मार्ग है, वह तो प्रथम सम्यक्त्व प्रगट हो, तत्पश्चात् व्रतादिका अंगीकार करना हो। वह राज मार्ग है। मुख्य मार्ग तो वह है। फिर भी किसीको ऐसा हो तो भी उसे वहाँ समझ बराबर रखनी चाहिये। इतनी बात है। ११९ पूरा हुआ। थोड़ा बाकी था।



## नवीन प्रकाशन

### अध्यात्म सुधा भाग-१०

पूज्य बहिनश्रीके वचनमृत ग्रन्थ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए प्रवचनोंका पुस्तक 'अध्यात्म सुधा भाग-१०' पूज्य भाईश्रीकी ८५वीं जन्म जयंति प्रसंग पर प्रकाशित किया गया है। जिन मुमुक्षु भाई-बहनोंको स्वाध्याय अर्थ मंगवाना हो वे ट्रस्टके कार्यालयमें संपर्क करके मंगवा सकते हैं।

### अध्यात्म सुधा भाग-११-१२

पूज्य बहिनश्रीके वचनमृत ग्रन्थ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए प्रवचनोंका पुस्तक 'अध्यात्म सुधा भाग-११ एवं १२' पूज्य बहिनश्रीकी आगामी सम्यक्त्व जयंति महोत्सव दिनांक ११-३-२०१८के दिन प्रसंग पर प्रकाशित करनेकी भावना है।

**संपर्क :- वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर-३६४००१**

## आगामी प्रकाशन

पण्डित श्री दिपचंदजी कासलीवाल द्वारा लिखित आध्यात्मिक ग्रन्थ 'आत्मावलोकन' एवं 'चिद्विलास' पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए भाववाहि अर्थगंभीर प्रवचनोंकी पुस्तकें सन् २०१८में प्रकाशित करनेकी भावना है। इसमें 'आत्मावलोकन' ग्रन्थ पर हुए प्रवचनोंके पाँच भाग होनेकी धारणा है एवं 'चिद्विलास' ग्रन्थ पर हुए प्रवचनोंके दो भाग बननेकी संभावना है।

श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा साधर्मियों को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र

“हे जिन! मेरी ऐसी बुधि कीजे।  
राग-द्वेष दावानल तें बचि, समता रसमें भीजे।।”

धर्मस्नेही निहालचंद्र



११

कलकत्ता

१०-११-१९५३



श्री सद्गुरुदेवाय नमः

**पवित्र आत्मारथी...**

आप दोनों का लिखा हुआ कार्ड कल रात्रि मिला। सोनगढ़ का पत्र देखते मात्र ही हृदय कैसा डोल उठता है, व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। वहाँ की स्मृतियों बिना कोई दिवस नहीं गुज़रता। आपके अंतरंग को भली प्रकार समझता हूँ, फिर भी पत्रादिक की प्रवृत्ति में मन संकुचित-सा रहता है अतः उत्साहवर्द्धक पत्र नहीं लिखा जा सका था।

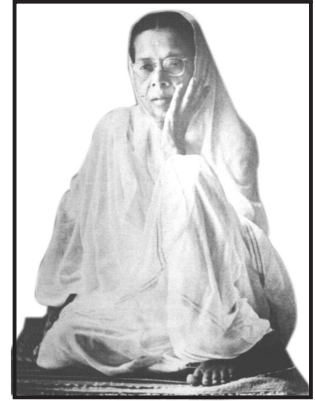
कुछ समय से यहाँ के दिगंबर जैन मंदिरजी में रात्रि को एक घन्टे मुमुक्षु भाईयों के साथ शास्त्रस्वाध्याय होता है। पूज्य श्री गुरुदेव की शारीरिक अस्वस्थता व स्वस्थता के समाचार समय-समय पर उन भाईयों के पास वहाँ के पत्रादिक आते थे उनसे मालूम होते रहते थे। परम-परम हर्ष है कि परम अद्भुत, जीवन उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोग से रहित करनेवाले योगीराज श्री सद्गुरुदेव का स्वास्थ्य अब बिलकुल ठीक है। अनादि-अनंत आयु के धारक चैतन्य गुरुदेव की देह भी दीर्घायु होवे, ऐसी भावना है।

बाह्यप्रवृत्ति व संयोगों से इच्छा (राग) का माप नहीं होता व इच्छा से निरीच्छुक सूक्ष्म अभेदवृत्ति का माप नहीं होता। इच्छा होते हुए भी पुण्ययोग बिना क्षेत्रान्तर नहीं होता। वहाँ आने-जाने आदि के वायदे निश्चय निहालभाई के नहीं समझो। निश्चय निहालभाई तो अनादि से कहीं आये-गये ही नहीं, न अब अनंतकाल कहीं आने-जानेवाले ही हैं। न कभी किसीको वायदा किया ही था न करनेवाले ही हैं। वायदे व आने-जाने आदि का कार्य सब जड़ाश्रित जड़ का ही है, चेतन निहालभाई का नहीं। चेतन ने तो इस ही के कहलाये जानेवाले राग से भी कभी निमित्तरूप संबंध तक नहीं किया तो अन्य क्रियाओं व वायदों में तो उसका संबंध देखना वृथा है। हे प्रभो! सर्व जीव सर्व संबंधो से रहित मात्र सामान्य चेतन में ही अपने अस्तित्व की दृष्टि करें व लिखने, पढ़ने, आने, जाने, वायदे करने-कराने आदि सर्व पागलपन की क्रियाओं को उपचारिक निमित्तपने भी क्षय कर देंगे, यह ही भावना है।

जड़ निहालभाई को अब भी सोनगढ़ पहुँचने में करीब २० दिवस और लगे, ऐसी आशा है।  
कलकत्ते से एक हफ्ते में क्षेत्रांतर होनेके आसार है।

धर्मस्नेही निहालचंद्र

## पूज्य बहिनश्री की तत्वचर्चा



**प्रश्न :-** जो बाहरी सुधार करना चाहता है उसका ज्ञान क्या मिथ्या कहा जायगा?

**समाधान :-** ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि उसने विभावभावोंको छोड़नेका मार्ग नहीं समझा है। विभाव कैसे दूर हों उसका सच्चा उपाय वह नहीं जानता, इसलिये मात्र बाहरमें ही सुधार करता है। जो बाह्यमें सुधार करता रहता है, बाहरी सुधार करना चाहता है उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, वह मार्गको नहीं पहिचानता। जिसका लक्ष्य ज्ञायकपर नहीं है ऐसे अनेक जीव मात्र बाहरी ही सुधार करते रहते हैं अर्थात् अशुभभावोंको सुधारते रहते हैं परंतु इस प्रकार विभाव वास्तविकरूपसे नहीं छूटते; इसलिये उसका ज्ञान सच्चा नहीं है।

**मुमुक्षु :-** बाहरी अर्थात् शुभका अवलंबन लेकर?

**बहिनश्री :-** अज्ञानी जीव बाहरी अर्थात् शुभका अवलंबन लेकर अशुभको छोड़ना चाहता है, परंतु वह सच्चा मार्ग नहीं जानता; उसकी दृष्टि आत्माकी ओर नहीं है तथा आत्माके लक्ष्यसे विभाव छूटे ऐसा उशका ध्येय भी नहीं है। जीवने कषायकी मंदता अनंतबार की है, मंदकषाय करके अनंतबार मुनिपना धारण किया है-इस प्रकार बाहरी सब सुधार किया है परंतु उसका ज्ञान सच्चा नहीं होनेसे उसके विभाव यथार्थरूपसे नहीं छूटते। मात्र उसे वैराग्यके कारण बाह्यमें सब छूट जाता है, परंतु वास्तवमें तो अंतरंगसे विभाव छूटने चाहिये वे नहीं छूटते; क्योंकि उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। (स्वानुभूतिदर्शन-५८९)



**प्रश्न :-** मैं कुछ न करूँ तो क्या शून्य नहीं हो जाऊँगा?

**समाधान :-** मैं कुछ कर नहीं सकता, मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ-ऐसी जिसे उदासीनता एवं ज्ञायककी महिमा आये वह स्वयं श्रद्धा करके, परिणतिको तालीम दे (गढ़े) तो उसकी सहजदशा हो। मैं कुछ नहीं कर सकता तो मैं निकम्मा-शून्य-निष्क्रिय हो जाऊँगा ऐसा जिसे अंतरमें लगता हो वह उदासीन नहीं रह सकता। जिसे प्रवृत्तिका रस हो उसे ऐसा लगता है कि सिद्ध भगवानको करनेका कुछ नहीं? तथा यह सब छूट जायगा तो क्या शून्यता तो नहीं आ जायगी न? उसे ऐसी महिमा-श्रद्धा अंतरसे नहीं आती कि अंतरमें सब कुछ भरा है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९०)



**प्रश्न :-** सत्पुरुषके सान्निध्यमें आत्माकी लगन कुछ विशेष होती है?

**समाधान :-** सत्पुरुषका तो निमित्त महान-प्रबल है, परंतु करनेका तो अपनेको रहता है। इसलिये शास्त्रमें आता है न कि देव-शास्त्र-गुरु या सत्पुरुषका सान्निध्य खोजकर तू उनकी शरणमें जा, वे जो कहें वैसा कर। परंतु करनेका तो अपनेको रहता है। उपादान अपनेको तैयार करतना पड़ता है, कोई कर नहीं देता। मुक्तिमार्ग प्रगट करने हेतु सत्पुरुषका निमित्त प्रबल है अर्थात् मुक्तिके मार्गको पहिचाननेके लिये, स्वानुभूति प्रगट करनेके लिये जिज्ञासुकी भूमिका-आत्मार्थिता प्रगट करनेके लिये गुरुका निमित्त महान है, किंतु करनेका अपनेको रहता है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९१)

**प्रश्न :-** पर्यायमें पुरुषार्थ होता है तो उसे ज्ञानी करता है या जानता है?

**समाधान :-** मात्र जानता है इतना ही नहीं, पुरुषार्थ करता है। वह ऐसा जानता है कि मैं ज्ञाता हूँ। ऐसे ज्ञाताकी उग्रता करनेसे ज्ञानमें पुरुषार्थ आ जाता है। मात्र जानने के लिये जाने तो ज्ञानमें पुरुषार्थ नहीं आ जाता, परंतु ज्ञायककी उग्रतामें पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञाता यानी कि पर्याय है ऐसा जाना अर्थात् जानपना किया कि पर्याय है उससे पुरुषार्थ आ जाय ऐसा नहीं है, परंतु ज्ञाताधारा की तीक्ष्णता करे तो उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। 'मैं ज्ञायक हूँ'- इस प्रकार ज्ञाताधाराकी उग्रता करके लीनता करे तो उसमें पुरुषार्थ आ जाता है। 'मैं द्रव्यसे ज्ञायक हूँ' ऐसे ज्ञायकको ज्ञायकरूपसे रखनेके लिये तथा ज्ञायककी परिणति दृढ़ करनेके लिये अर्थात् ज्ञाताधाराकी उग्रता हेतु ज्ञानी पुरुषार्थ करता है। बहिर्मुख होनेवाला उपयोग वह विभाव परिणति है उससे पृथक् होकर स्वयं अंतरमें स्वरूपके प्रति लीनताका प्रयत्न करता है। ज्ञानीका जानना, वह मात्र जान लेना ऐसा नहीं परंतु पुरुषार्थपूर्वक जानना है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९२)



**प्रश्न :-** द्रव्य और पर्याय-इन दोनों के बीचका खेल ही कुछ समझमें नहीं आता! ऐसा करने जाय तो निश्चयाभासी हो जाते हैं और ऐसा करने जाय तो व्यवहाराभासी हो जाते हैं?

**समाधान :-** वह सब विकल्पात्मक है इसलिये ऐसा होता है, परंतु सहज हो तो ऐसा नहीं होता। विकल्पसे निर्णय करने जाय तो एक विकल्प छूटता है और दूसरा उत्पन्न होता है। यदि सहज हो तो ऐसा नहीं होता। ज्ञायककी परिणति सहज हो तो एक (द्रव्य) का ग्रहण हो और एक (पर्याय)का ज्ञान छूट जाय वैसा नहीं होता। वह द्रव्यको ग्रहण करता है और पर्यायमें पुरुषार्थ रहता है; परंतु विकल्पात्मक प्रयत्न होता है इसलिये द्रव्यका विचार करनेपर पर्याय छूट जाती है, परंतु उसकी संधिका यथार्थ विचार करके निर्णय करना चाहिये। द्रव्यदृष्टि और पर्यायमें पुरुषार्थ-दोनोंकी संधि करने जैसी है। एकको ग्रहण करने जाय और दूसरा छूट जाय तो मात्र निश्चयाभास हो जाता है। द्रव्यदृष्टि न हो तो मोक्षमार्ग ही प्रगट नहीं होता। (स्वानुभूतिदर्शन-५९३)



**प्रश्न :-** पहले द्रव्यदृष्टि होती है या व्यवहार होता है?

**समाधान :-** जहाँ द्रव्यदृष्टि मुख्य और यथार्थ हो वहाँ यथार्थ व्यवहार आ जाता है। द्रव्यदृष्टिके साथ यथार्थ व्यवहार रहता है; यदि वह छूट जाय तो दृष्टि ही सम्यक् नहीं है। स्मयदृष्टि-यथार्थदृष्टि हो तो उसके साथ यथार्थ ज्ञान और यथार्थ स्वरूपमणता होती है। ज्ञायकपर दृष्टि जानेके साथ ही पूर्ण मुक्ति और पूर्ण वेदन नहीं हो जाता, परंतु अभी अपूर्णता है और तबतक व्यवहार होता है।

मुमुक्षुदशामें (प्रथम) उसे निर्णय करना चाहिये कि मैं स्वभावसे निर्मल हूँ; साथ ही भेदज्ञानका अभ्यास करे कि मैं भिन्न हूँ। इस प्रकार एकत्वबुद्धिसे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न और दृष्टि साथ होते हैं और भावनामें भी ऐसा होना चाहिये। प्रथम जैसा स्वभाव है वैसा ही ग्रहण करे, फिर पर्यायमें जो अपूर्णता और अशुद्धता है उन्हें हटाकर शुद्धताका प्रयास करता है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९४)



**प्रश्न :-** पर्यायको न माननेसे क्या दृष्टिका बल बढ़ जाता होगा?

**समाधान :-** पर्याय नहीं है ऐसा माननेसे कहीं दृष्टिका बल बढ़ जाय ऐसा नहीं होता। जैसा है वैसा यथावत् जाने तो दृष्टिका बल बढ़ता है। द्रव्यदृष्टि के विषयमें पर्याय नहीं है, इसलिये पर्याय वस्तु

ही नहीं है यह कोई यथार्थ नहीं है। दृष्टिके विषयमें पर्याय नहीं आती; ध्येय एक द्रव्य पर है। उसकी दृष्टिमें पर्याय नहीं रहती, इसलिये पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९५)



**प्रश्न :-** ज्ञानी बारंबार अपने आप अंतर्मग्न हो जाते हैं?

**समाधान :-** उसमें प्रयत्न है, परंतु वह प्रयत्न सहज हो जाता है, कोई उसे कर नहीं देता और न जबरन् करना पड़ता है, प्रयत्न सहज है। अपने घरकी ओर स्वभाविकरूपसे दौड़के जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-५९६)



**प्रश्न :-** ज्ञानीको अंतरमें परम शांति मिलती है तो बाहर किसलिये निकलते हैं? एकदम शांति मिल जानेपर फिर आकुलतामें किसलिये आते हैं?

**समाधान :-** उतना पुरुषार्थ नहीं है इसलिये बाहर आ जाते हैं और अनादिके जो विभाव रहे हैं उनमें लग जाते हैं। अभी विभाव विद्यमान हैं उनका क्षय नहीं हुआ है, तथा अंतरमें उतना पुरुषार्थ नहीं है इसलिये अंतरमें स्थिर नहीं रह पानेसे बाहर आ जाते हैं। (स्वानुभूतिदर्शन-५९७)



**प्रश्न :-** सत् सरल, सुगम है; परंतु कोई मार्ग दिखलाये तो प्राप्ति हो न?

**समाधान :-** सत् सरल और सुगम है। दिखानेवाले दिखाते हैं परंतु देखना तो अपनेको है न? स्वयं न देखे तो कोई चाहे जितना दिखाये तब भी देख नहीं सकता।

स्वयं देखनेकी तैयारी करे तो देख सकता है। बतलानेवाले तो बतलाते हैं-गुरुदेवने बहुत बतलाया है। परंतु जिसकी जितनी तैयारी हो उतना ग्रहण करता है। सब एक ही प्रकारसे ग्रहण नहीं कर सकते। तैयारी तो अपनेको ही करनी है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९८)



**प्रश्न :-** वृद्धावस्था और मरणका भय लगता है, उसका क्या कारण है?

**समाधान :-** वृद्धावस्था या मरण भयका कारण नहीं है; परंतु अपने शरीरके प्रति जो राग है-एकत्वबुद्धि है उस कारण भय लगता है। शरीरमें वृद्धावस्था आये वह किसीको नहीं सुहाती और मृत्युका भय लगता है-मृत्यु किसीको अच्छी नहीं लगती उसका कारण अज्ञान है। जबतक भवका अभाव नहीं होता तबतक शरीर धारण करता है, परंतु अपनेको शरीरके साथ एकत्वबुद्धिका राग है इसलिये भय लगता है। उसकी एकत्वबुद्धि इतनी प्रबल है कि शरीरसे पृथक् होना अच्छा नहीं लगता इसलिये भयभीत होता है। वृद्धावस्था या मरण, भय नहीं उपजाते परंतु अज्ञानके कारण डरता है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९९)



**प्रश्न :-** वृद्धावस्था और मरणका भय लगता है, उसका क्या कारण है?

**समाधान :-** वृद्धावस्था या मरण भयका कारण नहीं है; परंतु अपने शरीरके प्रति जो राग है-एकत्वबुद्धि है उस कारण भय लगता है। शरीरमें वृद्धावस्था आये वह किसीको नहीं सुहाती और मृत्युका भय लगता है-मृत्यु किसीको अच्छी नहीं लगती उसका कारण अज्ञान है। जबतक भवका अभाव नहीं होता तबतक शरीर धारण करता है, परंतु अपनेको शरीरके साथ एकत्वबुद्धिका राग है इसलिये भय लगता है। उसकी एकत्वबुद्धि इतनी प्रबल है कि शरीरसे पृथक् होना अच्छा नहीं लगता इसलिये भयभीत होता है। वृद्धावस्था या मरण, भय नहीं उपजाते परंतु अज्ञानके कारण डरता है। (स्वानुभूतिदर्शन-५९९)



**प्रश्न :-** शरीरका स्वतंत्र परिणमन अंतरमें सम्मत नहीं होता, समझमें भी नहीं आथा, तो क्या करें?

**समाधान :-** समझनेका अभ्यास करना। शरीर जड़-पुद्गल है। मैं जाननेवाला हूँ। शरीरका स्वभाव

स्वतंत्र है। विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो चैतन्य ज्ञायकस्वभावी हूँ, उसमें शांति एवं आनंद भरा है। उसका बारंबार विचार करना। अंतरमें सम्मत नहीं होता है तो सम्मत करनेका अभ्यास करना, बारंबार विचार करना; स्वभावदृष्टिसे (-तात्त्विक-दृष्टिकोण अपनाकर) पहिचाननेका अभ्यास करना।

जैसे स्फटिक निर्मल है वैसे ही मैं भी निर्मल हूँ। जलका स्वभाव निर्मल है वैसे ही मैं निर्मल हूँ। जलमें मलिनता बाहरसे आती है-कादवकी वजहसे आती है उसी प्रकार यह संकल्प-विकल्प विभाव हैं, अपना स्वभाव नहीं हैं; उनसे भेदज्ञान करना।

(स्वानुभूतिदर्शन-६००)



**प्रश्न :-** क्या द्रव्यदृष्टि हुए बिना क्या पर्यायका आश्रय नहीं छूटता?

**समाधान :-** द्रव्यदृष्टि प्रगट करे तो पर्याय का आश्रय छूटे और जिसे पर्यायका आश्रय छूटे उसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हो। द्रव्यपर दृष्टि करनेसे ही पर्यायदृष्टि छूटती है। मुख्य तो द्रव्य है, पश्चात् (ज्ञानमें) पर्याय खड़ी रहती है, परंतु उसकी दृष्टि छूट जाती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६०१)



**प्रश्न :-** पर्यायका परिणमन चलता हो फिर भी पर्यायदृष्टि छूट जाती है?

**समाधान :-** पर्यायका परिणमन चलता ही रहता है, परंतु पर्यायदृष्टि छूटकर दृष्टि द्रव्यपर आ जाती है। पश्चात् वह परिणमन अमुक अंशमें शुद्ध हो जाता है, और अमुक अंशमें विभावरूप रहता है। दृष्टि बदलकर द्रव्यपर गई इसलिये आंशिक शुद्धरूप परिणमन हो गया, तथापि अमुक परिणमन अभी विभावरूप बना रहता है। दृष्टिका दोष मुख्य है। दृष्टिका दोष ही पर्यायदृष्टि है। पर्याय तो मौजूद रहती है, वह कुछ हानि नहीं करती, परंतु पर्यायदृष्टि हानिकारक होती है। अपनी (स्वकी) दृष्टि-श्रद्धा हुई वहाँ संपूर्ण परिणमनचक्र फिर गया, सम्पूर्ण दिशा बदल गई। पहले संपूर्ण दिशा परद्रव्यकी ओर थी, वह स्वद्रव्यकी ओर आ गई। दृष्टि पलट गई इसलिये अनंत संसार छूट गया। अब थोड़ा विभाव रहता है परंतु दिशा संपूर्ण बदल गई।

(स्वानुभूतिदर्शन-६०२)



**प्रश्न :-** क्या ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानमय और अज्ञानीके अज्ञानमय हैं?

**समाधान :-** ज्ञानीकी दृष्टि बदल गई है, इसलिये उसके समस्त भाव ज्ञानमय हैं; जबकि अज्ञानीकी दृष्टि बिलकुल विपरीत होनेसे, उसके जितने भाव होते हैं वे सब अज्ञानमय हैं। अज्ञानीके शुभभावमें भी अंतरंग भ्रांति साथ होती है (शुभभाव भी विभाव है, वह ऐसा) नहीं समझता इसलिये एकत्वबुद्धि करता रहता है। (और उस कारण) जो नहीं समझता उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं। जब दृष्टि

यथार्थरूपसे बदल जाये-भेदज्ञान हो जाय-तभी ज्ञानमय भाव कहे जाते हैं; तबतक जिज्ञासाकी भूमिकामें भी ज्ञानमय भाव कहा नहीं जा सकता, क्योंकि एकत्वबुद्धि विद्यमान है। जिज्ञासुको रस तो मंद पड़ा है; परंतु सर्व ज्ञानमय भाव कब होते हैं? कि जब भेदज्ञानकी-ज्ञातापनेकी धारा हो तब सर्वभाव ज्ञानमय होते हैं और ऐसा न हो तबतक सर्वभाव एकत्वबुद्धिरूप हैं इसलिये वे सब अज्ञानमय कहे जाते हैं। जिज्ञासु जीव छूटनेकी भावना करता है, परंतु अभी एकत्वपरिणति हो रही है-एकत्वबुद्धि है और दिशा परिवर्तित नहीं हुई है। यदि दृष्टिका एक घड़ा सीधा हो जाय तो सब (भावके) घड़े सीधे हो जाते हैं। एक दृष्टिका घड़ा औंधा होनेसे सब घड़े औंधे ही रहते हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-६०३)



**श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा व्यक्त हुए पत्र का विवेचन**

किसीको समझाया है तथापि गुरुत्व भावमें रहकर किसीको व्रतपच्चक्खान नहीं दिये हैं। इसके पीछे ऐसा आशय है कि जब तक सर्वसंग परित्याग न हो तब तक मार्गउपदेशकरूप प्रवृत्ति नहीं करनी है। परंतु भविष्यमें सर्वसंगपरित्याग होने पर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहजरूपसे उदयमें आये तो करना, ऐसा विचार है; परन्तु आग्रह नहीं है। मात्र अनुकम्पादि रहते हैं इसलिये कभी-कभी वह वृत्ति उठती है, जो अल्पांशमें है, और स्ववश है।

उन्हें ऐसा भासित होता है कि यदि खुदको सर्वसंगपरित्याग आदि सहज दशा उत्पन्न हो तो, उस निमित्तसे हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त हो और सन्मार्गका आराधन करके सद्गतिको प्राप्त हो। हमारे संगमें बहुत जीव त्यागवृत्तिवाले हो जाये, ऐसा हमारे मन, वचन, कायाके योगमें त्याग है, इसलिये उक्त विचार आते हैं परन्तु उपदेशक पुरुषको धर्मस्थापनाका बड़ा मान मिलता है, और मान चढ़ जाने पर अधःपतन होता है, ऐसा प्रथमसे ही समझमें होने से, उपदेशकके पद जैसा जोखिम दूसरा नहीं है। अतः मानादिकी स्पृहासे भी ऐसी वृत्ति नहीं हुई, ऐसा अपने परिणामोंका अनेक बार अवलोकन करके जाँच की है और कसकर देखा है। क्योंकि उस विषयमें परिपक्व योग्यता न हो तब तक उस कार्यकी इच्छा भी न करना, और मार्गका उपदेश न करता-ऐसा आत्मनिश्चय वर्तता है। परन्तु ऐसा कार्य स्व-पर हितका बलवान कारण होनेसे परिग्रहादि त्याग करनेका विचार रहा करता है। उक्त वचनमृतोंमें परमकारुण्यवृत्तिका विशेषरूपसे दर्शन होता है। परिग्रहादिका त्याग उपकारी होनेपर भी, सहजभावसे-ममत्वरहितभावसे परिग्रहादिक संयोगो के बीच रहकर स्वयं आत्महित कर रहे हैं, ऐसी परिस्थितिमें जिनेश्वरदेवके मूलमार्गके उद्योतका मुद्दा उपस्थित होनेसे, उस विषयमें अनेक पहलूओं सहित जो कुछ अपने विचार और परिणाम हुए, वह यहाँ व्यक्त किये हैं।

७९०

बंबई, श्रावण सुदी ३, रवि १९५३

**‘बलवान और वेदन किये बिना अटल उदय होनेसे अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमें रहते हैं।’**

कृपालुदेवको जिनोक्त प्रतिपादित त्याग-व्यवहारकी भावना अत्यंतरूपसे रहती है; परन्तु बलवान और वेदन किये बिना अटल ऐसा उदय होनेसे, समतासहित वेदन किया जाता है। परिग्रहादिक प्रवृत्तिमें रहना पड़ता है; उसका अंतरंग खेद रहता है, तथापि ज्ञानसे समाधान रहता है।

परिग्रहादिक प्रवृत्ति कर्मकृत है, जो स्वयंके ही पूर्वोपार्जित कर्म हैं, उसका समभावसे वेदन करना और अभिप्रायपूर्वक उसमें अनिष्टपना न होना, यह प्रकार सम्यक् है; और सम्यक् पुरुषार्थ सहित वेदन करने पर निर्जरा होनेमें कारणभूत है। तद्उपरांत सत्तामें रहे संचितकर्मोंकी स्थिति भी अपकर्षण होकर-दीर्घकालमें से परिवर्तित होकर, अल्पकालकी होती है; ऐसे प्रकारसे आत्मध्यानमें रहा जाता है।

उक्त प्रकारसे वे त्वरित गतिसे मोक्षमार्गमें आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् जोशपूर्वक आगे बढ़ रहे हैं; जो कि मुमुक्षुजीवको बोध लेनेके लिये एक जीवंत निमित्त है अथवा दृष्टांत है।

सामान्यतः रागके निमित्तोंका त्याग किये बिना वीतरागताकी उपासना नहीं हो सकती, ऐसे विचार व अभिप्रायसे, जिव उदयके बीच रहकर, अंतर्मुख होनेके मार्गको नहीं साधता; (बल्कि) हठसे त्यागमार्गमें प्रवृत्ति करता है; इस वज्रहसे अंतर्मुख होनेके मूलमार्ग पर लक्ष्य नहीं जाता। यहाँ परम कृपालुदेवके जीवनमें पूर्वकर्मके उदय अनुसार प्रवृत्ति के बीच भी अंतर्मुखताके मार्गको साधनेकी कला प्राप्त हो सके, ऐसी आचरणा देखने मिलती है, जो अलौकिक उपकारभूत है।

७०८

राळज, भादों, १९५२

‘यदि सचमुच उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्ग प्राप्त कर सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत हो सकता है। ऐसा दिखायी देनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यह कार्य कोई करे तो बहुत अच्छा; परन्तु नजर दौड़ानेसे वैसा पुरुष ध्यानमें नहीं आता, इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ नजर जाती है; परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे लक्ष्य ऐसा है कि इसके जैसा एक भी जोखिमवाला पद नहीं है, और जब तक अपनी उस कार्यकी यथायोग्यता न हो तब तक उसकी इच्छा मात्र भी नहीं करनी चाहिये, और बहुत करके अभी तक वैसा ही वर्तन किया गया है। मार्गका यत्किंचित् स्वरूप किसी-किसीको समझाया है, तथापि किसीको एक भी व्रतपचकखान दिया नहीं है, अथवा तुम मेरे शिष्य हो और हम गुरु हैं, ऐसा प्रकार प्रायः प्रदर्शित हुआ नहीं है। कहनेका हेतु यह है कि सर्वसंगपरित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज स्वभावसे उदयमें आये तो करना, ऐसी मात्र कल्पना है। उसका वास्तवमें आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञानप्रभाव है, इससे कभी-कभी वह वृत्ति उद्भवति होती है, अथवा अल्पांशमें वह वृत्ति अंतरमें है, तथापि वह स्ववश है। हमारी धारणाके अनुसार सर्वसंगपरित्यागादि हो तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त करें, और हजारों मनुष्य उस सन्मार्गका आराधन करके सद्गतिको प्राप्त करें, ऐसा हमारे द्वारा होना सम्भव है। हमारे संगमें अनेक जीव त्यागवृत्तिवाले हो जाये ऐसा हमारे अंतरमें त्याग है। धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी सम्भावना वर्तमान दशामें कम ही दिखती है; और किंचित् सत्तामें रही होगी तो वह क्षीण हो जायेगी, ऐसा अवश्य भासित होता है, क्योंकि यथायोग्यताके बिना, देह छूट जाये वैसी दृढ़ कल्पना हो तो भी, मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे परिग्रह आदिका त्याग करनेका विचार रहा करता है।’

इस पत्रमें जिनेश्वरदेवके मूलमार्गका उद्योत होनेके लिये अपने चलते हुए परिणाम सम्बन्धी उल्लेख किया है।

वर्तमानमें, शासनमें रहे जीवोंकी योग्यता देखते हुए उन्हें ऐसा भासित होता है कि-यदि वास्तवमें किसी सच्चे उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्गको प्राप्त कर सकते हैं। और समाजमें दया आदि कार्योंका विशेष फैलाव हो सकता है।

ऐसा दिखने पर यह विचार रहता है कि, यह कार्य यदि कोई करे तो अच्छा। परन्तु समाज पर दृष्टि करने पर ऐसा कोई योग्य गुणगान पुरुष ध्यानमें नहीं आता; इसलिये स्वयं के ऊपर कुछ दृष्टि आती है; क्योंकि ऐसे कार्यके लिये खुदकी योग्यता दिखती है। स्वयंको आत्मज्ञान सहित सातिशय ज्ञान-प्रभाव रहता है। इतना ही नहीं, अंतरंगमें त्यागवृत्ति भी है; तथापि शुरूसे ही ऐसा लक्ष्य रहा है कि उपदेशकका पद अत्यंत जोखिमवाला है, अतः बाह्य परिस्थितिका विचार करते हुए अभी ऐसी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये; इस गिनतीपूर्वक अभी तक ऐसा ही वर्तन किया है। यद्यपि मार्गका स्वरूप यत्किंचित् किसी-

(अनुसंधान पृष्ठ सं.१८ पर...)

